नीतियों और अभ्यासों के बीच का अनवरत अन्तराल

विमला रामचन्द्रन



यदि हम 1950 से सरकारी नीतियों और महत्त्वपूर्ण शिक्षा कमीशन की रिपोर्टों का अध्ययन करना चाहते हैं तो हमारा ध्यान नीतियों की उन सिफ़ारिशों पर जाता है जिन्हें बार-बार इनमें दोहराया गया है। यहाँ ऐसी ही कुछ सिफ़ारिशों की सूची दी जा रही है जिन्हें नीति के हर वक्तव्य में दोहराया गया है :

- स्कूल परिसर के भीतर बच्चों की देखभाल की सुविधाएँ/क्रेश उपलब्ध कराए जाएँ (कोठारी आयोग 1968 एनपीई 1986);
- स्कूलों के लिए लचीले समय और क्षेत्र-विशिष्ट कैलेण्डर की पेशकश की जाए - ख़ासकर जनजातीय क्षेत्रों में। जनजातीय समुदायों से शिक्षकों का एक निकाय बनाया जाए तथा अधिकाधिक लोगों को शिक्षक बनने के लिए प्रोत्साहित किया जाए...(कोठारी आयोग 1968 एनपीई 1986, जनजातीय क्षेत्रों पर भूरिया[1] और धेबर आयोग[2]); जनजातीय आयोगों ने ख़ासतौर पर यह माँग की कि सरकार "जनजातीय शिक्षा के शैक्षिक और भाषायी पहलुओं और जनजातीय क्षेत्रों में शिक्षकों के विकास और प्रशिक्षण कार्यक्रमों पर विशेष ध्यान दे, मध्याह्न भोजन, कपड़े और किताबें मुहैया कराए और सबसे ज़रूरी बात यह कि स्कूल के कैलेण्डर को जनजातीय सामाजिक जीवन के अनुरूप बनाए..."(जनजातीय आयोग 1961);
- शिक्षक-शिक्षा को अधिक लचीला और स्थानीय दृष्टि से विशिष्ट बनाया जाए तथा सिद्धान्त और अभ्यास में सन्तुलन लाया जाए (विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग 1953, चट्टोपाध्याय समिति 1985 और राममूर्ति समिति 1990);
- शैक्षिक नियोजन और प्रशासन को विकेन्द्रीकृत किया जाए। इसे लोगों के क़रीब लाया जाए ताकि यह समाज की विशिष्ट आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित करे ; विकेन्द्रीकृत और संयोजित कार्यनीतियों को मज़बूत किया जाए और सन्दर्भ विशिष्ट शैक्षिक ज़रूरतों को पूरा किया जाए – विशेष रूप से लड़कियों और अन्य फोकस समूहों की ज़रूरतों को (1968 का कोठारी आयोग, एनपीई 1986, डीपीईपी व एसएसए कार्यक्रमों और आरटीई विधेयक 2009 में भी इस पर बल दिया गया);
- समान स्कूल प्रणाली – "पड़ोस का स्कूल बच्चों को

भूरिया आयोग 2002-04 की सिफ़ारिशें

जनजातीय लोगों की समग्र प्रगति के लिए शिक्षा के क्षेत्र को एक प्रमुख क्षेत्र माना जाना चाहिए। हालाँकि 1961 में साक्षरता प्रतिशत 8.53% था जो 1991 में बढ़कर 29.60% हो गया है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि अनुसूचित जनजाति के लोग वास्तव में शिक्षित हो गए हैं। वे बाक़ी के समाज तक पहुँचने में सक्षम नहीं हो पाए हैं; सच पूछा जाए तो अनुसूचित जनजाति और ग़ैर-अनुसूचित जनजाति के बीच की साक्षरता प्रतिशतता का अन्तर बढ़ता जा रहा है।

जनजातीय नीति का लक्ष्य होगा :

I. शिक्षण को जनजातीय जीवन और परिवेश के उपयुक्त बनाना।
II. पाठ्यचर्या और पाठ्यक्रम को जनजातीय जीवन और संस्कृति के अनुकूल बनाना।
III. कम-से-कम प्राथमिक स्तर तक जनजातीय बच्चे की मातृभाषा में शिक्षा देना।
IV. सर्व शिक्षा अभियान जैसे राष्ट्रीय कार्यक्रमों को जनजातीय आबादी पर केन्द्रित करना क्योंकि यह समाज के सबसे अशिक्षित वर्ग का गठन करता है।

[1] भूरिया समिति 1991 और भूरिया आयोग 04-2002

[2] 61-1960 का जनजातीय आयोग, श्री यू.एन.धेबर की अध्यक्षता में

V. मैट्रिक स्तर तक छात्रवृत्ति, छात्रावास के रखरखाव का ख़र्चा, मुफ़्त स्कूल वर्दी आदि प्रदान करना।

VI. सबसे पहले तो अनुसूचित क्षेत्रों और जनजातीय क्षेत्रों में निर्धारित मानदण्डों के अनुसार शैक्षिक संस्थानों की स्थापना करना। इसके अलावा, बिखरी हुई जनजातीय आबादी को देखते हुए मानदण्डों को कम करना।

VII. स्कूल और छात्रावासों की जीर्ण इमारतों की मरम्मत और पुनरुद्धार। सभी स्कूलों और छात्रावासों में शौचालय की सुविधा का प्रावधान, विशेष रूप से उनमें जो छात्राओं के लिए हैं।

VIII. प्रत्येक विकासखण्ड में लड़कों और लड़कियों के लिए कम-से-कम एक-एक आवासीय विद्यालय की स्थापना।

IX. प्रत्येक जनजातीय खण्ड में एक नवोदय विद्यालय की स्थापना।

X. आईटीडीपी/आईटीडीए में जनजातीय कार्य मंत्रालय द्वारा विकसित नमूने पर एक आदर्श आवासीय स्कूल की स्थापना।

XI. माध्यमिक स्तर तक आदिवासी क्षेत्रों में बच्चों के लिए पूरक पोषण और मध्याह्न भोजन का प्रावधान।

XII. व्यावसायिक शिक्षा और पेशेवर शिक्षा पर बल देना, कृषि, वानिकी, बागवानी, डेयरी, पशु विज्ञान जैसे विषयों में अध्ययन के लिए पॉलिटेक्निक स्थापित करना। इन अध्ययनों का स्व-रोज़गार की ओर उन्मुखीकरण।

XIII. शिक्षकों की अनुपस्थिति की समस्या (विशेष रूप से दूरदराज़ के इलाकों में) से निपटने के उपाय करना जैसे ग्राम शिक्षा समितियों का गठन, अनुबन्धित रोज़गार, अनुसूचित जनजातीय शिक्षकों की नियुक्ति।

अच्छी शिक्षा प्रदान करेगा क्योंकि आम लोगों के साथ जीवन साझा करना अच्छी शिक्षा का आवश्यक घटक है। दूसरे, ऐसे स्कूलों की स्थापना समृद्ध, विशेष सुविधा प्राप्त और शक्तिशाली वर्गों को सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली में रुचि लेने के लिए मजबूर करेगी और इस तरह इसमें जल्दी सुधार होगा।" (अनु. 10.18 कोठारी आयोग रिपोर्ट 1968);

राजनीतिक तंत्र द्वारा नीति की सिफ़ारिशों को गम्भीरता से न लेने की अक्षमता को ध्यान में रखते हुए 1985 के एक दस्तावेज़ 'चैलेंज ऑफ़ एजुकेशन : ए पॉलिसी पर्स्पेक्टिव' में कहा गया है कि "1968 की नीति के क्रियान्वयन के लिए विशिष्ट ज़िम्मेदारियों का निर्धारण और वित्तीय व संगठनात्मक समर्थन के माध्यम से विस्तृत कार्यनीति नहीं बनाई गई। नतीजतन पहुँच, गुणवत्ता, मात्रा, उपयोगिता और वित्तीय परिव्यय की सीमाएँ जैसी समस्याएँ अब इतनी अधिक बढ़ गई हैं कि उन्हें तत्काल निपटाया जाना चाहिए..." नीति और अभ्यास के बीच की इसी असम्बद्धता की वजह से ही शिक्षा का संकट एक विशाल रूप धारण कर चुका है जिसका सामना हम आज कर रहे हैं।

दूसरी और पिछले तीन दशकों (विशेष रूप से 1990) से सरकार द्वारा ऐसे कई कार्य किए गए जिन्हें नीति के स्तर पर कोई मंज़ूरी नहीं मिली थी। अनुबन्धित शिक्षकों और पैरा शिक्षकों का मामला ही लें। नीति के किसी भी दस्तावेज़ में आवश्यक शैक्षिक योग्यता के बिना शिक्षकों की नियुक्ति की सिफ़ारिश नहीं की गई और न ही किसी नीति में कम मानदेय पर शिक्षकों को काम पर रखने की सलाह दी गई। पैरा-शिक्षक या शिक्षा कर्मी/विद्या स्वेच्छाकर्मी/गुरु जी (कोई भी नाम दे लें) की धारणा शैक्षिक परिदृश्य का हिस्सा नहीं थी। 1987 में तत्कालीन शिक्षा सचिव अनिल बोर्डिया ने राजस्थान के लिए एक परियोजना तैयार की। इसे शिक्षाकर्मी परियोजना के रूप में जाना जाता है। इसमें स्थानीय युवाओं को शिक्षकों के रूप में नियुक्त करके ग्रामीण/दूरस्थ क्षेत्रों में शिक्षकों की कमी को कम करने की बात कही गई।

ऐसे क्षेत्रों में शैक्षिक स्थिति को देखते हुए, दसवीं कक्षा उत्तीर्ण युवकों को नियुक्त किया गया। यह परियोजना दूरदराज़ के इलाकों के स्कूलों में एक विशिष्ट स्थिति को सम्बोधित करने के लिए थी, जहाँ या तो शिक्षक नहीं थे या नियुक्त किए गए शिक्षक वहाँ जाते नहीं थे। जल्दी ही, कम वेतन (सामान्यतया नियमित शिक्षकों के वेतन का लगभग दसवाँ भाग) पर स्थानीय युवाओं की नियुक्ति (कम शैक्षिक योग्यता के बावजूद) के विचार में नौकरशाही, कई अन्तर्राष्ट्रीय फंडिंग एजेंसियों और ज़ाहिर है, भारत में शिक्षा समुदाय के मुखर हिस्से की दिलचस्पी बढ़ी। देखते-ही-देखते ओडिशा, पश्चिम बंगाल, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और राजस्थान (ये केवल कुछ नाम हैं) ने इस मॉडल को व्यापक पैमाने पर अपनाया। 1990 की शुरुआत तक इस प्रकार के शिक्षकों को 'पैरा-शिक्षक' के रूप

में जाना जाने लगा। कई राज्य सरकारों को लगा कि शिक्षकों की कमी को दूर करने का यह एक अच्छा तरीक़ा है जिसमें बार-बार वेतन देने का उत्तरदायित्व भी नहीं रहेगा। 1990 के उत्तरार्ध में 5वें वेतन आयोग की सिफ़ारिशों के क्रियान्वयन के चलते वेतन में जो भारी वृद्धि हुई, उसके कारण सरकार पर पड़ा आर्थिक बोझ बहुत बढ़ गया। दूरदराज़ के इलाक़ों में समस्याओं को विशेष रूप से सम्बोधित करने की रणनीति के रूप में हुई शुरुआत का व्यापक और शीघ्र प्रभाव पड़ा तथा सर्व शिक्षा अभियान और राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान में यह एक स्वीकृत अभ्यास बन गया। 2003-04 में 7.1% 'पैरा' या 'अनुबन्धित शिक्षक' थे, यह प्रतिशतता 2011-12 में 12.2% हो गई और फिर 2014 में घटकर 7.3% हो गई। निरपेक्ष संख्या में, इन प्रतिशतताओं का अर्थ है 2012-13 में 6.8 मिलियन नियमित शिक्षकों की तुलना में 0.5 मिलियन पैरा/अनुबन्धित शिक्षकों का होना। झारखण्ड में 2012-13 में पैरा/ अनुबन्धित शिक्षकों की प्रतिशतता 49% पर सबसे अधिक थी, मिज़ोरम में (26%) और उत्तर प्रदेश में (19%)। (रामचन्द्रन व अन्य, 2018[3])

समानान्तर प्रशासनिक संरचनाओं का निर्माण करना भारत सरकार द्वारा अपनाई गई एक और महत्त्वपूर्ण रणनीति थी। 1987 में भारत सरकार और राजस्थान सरकार शिक्षाकर्मी परियोजना को लागू करने के लिए शिक्षाकर्मी बोर्ड को एक पंजीकृत संस्था के रूप में स्थापित करने पर सहमत हुई। भारत में अधिकांश अन्य ग़ैर-सरकारी संगठनों की तरह यह भी संस्था पंजीकरण अधिनियम 1860 के तहत पंजीकृत थी, लेकिन एक महत्त्वपूर्ण अन्तर था। इस संस्था के औपचारिक प्रमुख राज्य के शिक्षा सचिव थे। यह आशा की गई थी कि यह संरचना सरकार की पहुँच, वैधता और अधिकार के साथ ग़ैर-सरकारी संगठन का लचीलापन और स्पष्टता प्रदान करेगी। इससे विकास प्रशासन में महत्त्वपूर्ण बदलाव आया- जिसमें मुख्यधारा के शैक्षिक प्रशासन को छोड़कर "बाहरी सहायता प्राप्त परियोजना" चलाने के लिए समानान्तर संरचना बनाई गई। जब शिक्षा के क्षेत्र में दाता-सहायता परियोजनाओं ने इस मॉडल को अपनाया तो जल्द ही यह 'नवपद्धति' मुख्यधारा बन गई। भारत सरकार की शिक्षा परियोजना महिला समाख्या के अलावा विश्व बैंक द्वारा सहायता प्राप्त ज़िला प्राथमिक शिक्षा परियोजना (डीपीईपी) ने 1994 में इस मॉडल को अपनाया और बाद में सर्व शिक्षा अभियान को भी इसी तरह के तंत्र के माध्यम से लागू किया गया। एक बार फिर, यह एक ऐसा तंत्र था जिसमें नीति स्तर की मंज़ूरी नहीं थी और इसे विशेष परियोजनाओं में अपनाया गया तथा धीरे-धीरे विस्तारित किया गया। यह उस संघीय सिद्धान्त के ख़िलाफ़ भी था जिसके तहत 1950 में संसाधन साझा करने पर सहमति हुई थी। यहाँ यह कहना समीचीन होगा कि 2014 में राज्य सरकारों ने भारत सरकार के वित्त मंत्रालय को इस बात के लिए मनाने की कोशिश की थी कि राज्य सरकार के खज़ाने की उपेक्षा करके पंजीकृत संस्थाओं को सीधे ही फंड देने की प्रथा बन्द की जाए। भारत सरकार और कई राज्य सरकारों के बीच में यह बात कई वर्षों तक विवाद का विषय रही और भारत सरकार की राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठकों में भी यह मुद्दा उठाया जाता रहा। केन्द्र द्वारा प्रायोजित योजनाओं पर बी. के. चतुर्वेदी (2014)[4] की रिपोर्ट में इसे पुनः दोहराया गया।

ऐसा क्यों है कि भारत में नीतियों और अभ्यासों के बीच हमेशा एक बड़ा अन्तर रहता है? क्या यह बात सामाजिक क्षेत्रों में ही है?

वैश्विक स्तर पर नीतियों को कार्रवाई के लिए एक सहमत रूपरेखा के रूप में देखा जाता है। यह सरकार की मंशा को बताता है। परिणामस्वरूप नीतियों को बनाने, प्रभाव डालने और बदलने में बहुत शक्ति लगती है। साथ ही यह भी मान लिया जाता है कि जब संसद द्वारा नीति को अमल में लाया जाता है तो पर्याप्त संसाधन (प्रशासनिक और वित्तीय) आवंटित किए जाएँगे। दिलचस्प बात यह है कि भारत में ऐसा नहीं है। नीतियाँ लागू की जाती हैं लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं है जो इन्हें पूर्ण रूप से लागू करने के लिए सरकार को मजबूर करे। भारत में शिक्षा, स्वास्थ्य, बाल विकास, लिंग समानता, आवास, खाद्य सुरक्षा आदि से सम्बन्धित अद्भुत नीतियाँ बनी हैं। लेकिन इनके लिए संसाधनों का आवंटन और क्रियान्वयन की समय सीमा निर्धारित नहीं की जाती। परिणामस्वरूप सम्बन्धित मंत्रालय नीतियों के कुछ हिस्से ही क्रियान्वयन के लिए चुनते हैं। 1990 के दशक से, विशेष रूप से 1986 की शिक्षा नीति और 1992 के कार्रवाई के कार्यक्रम के बाद मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने विशिष्ट सिफ़ारिशों के क्रियान्वयन के लिए परियोजनाएँ तैयार की हैं।

उदाहरण के लिए महिलाओं की समानता के लिए शिक्षा पर 1986 की नीति के अध्याय 4 के परिणामस्वरूप महिला समाख्या परियोजना बनी। लेकिन जेंडर सम्बन्धों में संचित 'अतीत की विकृतियों' को बेअसर करने के लिए शिक्षा का उपयोग एक साधन के रूप में करने की मुख्य सिफ़ारिश को शिक्षा की रणनीति में नहीं गूँथा गया। इसी प्रकार से शिक्षक

[3]Ramachandran, Vimala; Béteille, Tara; Linden, Toby; Dey, Sangeeta; Goyal, Sangeeta; Goel Chatterjee, Prerna. 2018. Getting the Right Teachers into the Right Schools: Managing India's Teacher Workforce. World Bank Studies;. Washington, DC: World Bank. © World Bank. https://openknowledge.worldbank.org/handle/10986/28618

[4]MHRD, GOI. 2014. Restructuring of Centrally Sponsored Schemes, Draft Executive Summary

प्रशिक्षण या ज़िला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम के लिए विशिष्ट कार्यक्रमों ने शिक्षक-शिक्षा की विषयवस्तु और प्रक्रिया में जेंडर सम्बन्धी मुद्दों को स्थान दिए बिना ही डायट और बाद में बीआरसी और सीआरसी जैसे संस्थानों की स्थापना पर ध्यान केन्द्रित किया। सर्व शिक्षा अभियान के बाद के राष्ट्रीय कार्यक्रमों में नामांकन बढ़ाने के लिए नए स्कूल खोलने, भवनों के निर्माण और शिक्षक प्रशिक्षण व्यवस्था पर ध्यान केन्द्रित किया गया।

परियोजना के दृष्टिकोण के हानिकारक प्रभावों में से एक यह था कि शिक्षा प्रशासन का मुख्य ढाँचा कमज़ोर हो गया और भारत सरकार द्वारा शुरू की गई योजनाओं या परियोजनाओं को लागू करने के लिए समानान्तर संरचनाएँ बनाई जाने लगीं। सभी राज्यों में नई 'स्वायत्त संस्थाएँ' प्रतिस्पर्धी संरचनाओं के रूप में उभरीं जिनके पास अधिक संसाधन (वित्तीय और मानव) तो थे ही, लचीलापन भी था। भारत सरकार से प्राप्त निधि सीधे इन संस्थाओं को दे दी जाती और संसाधन विशिष्ट गतिविधियों के लिए नियत होते थे। आइए, हम शिक्षक प्रबन्धन का उदाहरण लें। मुख्य शिक्षा प्रशासन द्वारा नियमित शिक्षकों की नियुक्ति जारी रही और उन्हें राज्य के संवर्ग के रूप में प्रबन्धित किया गया। अनुबन्धित शिक्षकों का भुगतान परियोजना निधि से किया गया। इससे कई समस्याएँ पैदा हुईं- (i) परियोजना से वेतन प्राप्त शिक्षकों को अलग-अलग वेतन मिलता था और उनके लिए नियम भी अलग थे, (ii) नियमित शिक्षकों को शैक्षिक सहायता और प्रशिक्षण तो परियोजना के माध्यम से दिया गया, लेकिन वे अपने कार्य की प्रगति की सूचना शिक्षा प्रशासन के मुख्य ढाँचे को ही देते (परियोजना निदेशालय को नहीं)। नतीजतन शिक्षकों और परियोजना संचालकों दोनों के दिमाग़ में भ्रम पैदा होने लगे। शिक्षक नहीं समझ पा रहे थे कि उनका नियंत्रण प्राधिकारी कौन है और परियोजना संचालकों के पास शिक्षक प्रबन्धन (शिक्षकों का स्थानान्तरण और तैनाती, वेतन आदि) का कोई अधिकार नहीं था, (iii) प्रशिक्षण या आधिकारिक बैठकों और कार्यशालाओं के लिए यात्रा भत्ते आदि का भुगतान परियोजनाओं के माध्यम से-और (iv) एक ही जैसा काम करने पर भी शिक्षकों को अलग-अलग वेतन मिलने की बात को लेकर स्कूलों में उभरता आपसी विरोध।

कई राज्यों में अनुबन्धित शिक्षकों के वेतन का अनियमित भुगतान एक बड़े मुद्दे के रूप में उभरा। उदाहरण के लिए झारखण्ड और पंजाब में उन शिक्षकों का वेतन, जो किसी परियोजना (आमतौर पर एसएसए या आरएमएसए) के लिए काम पर रखे जाते हैं या जिन्हें स्थानीय रूप से ज़िला परिषदों द्वारा काम पर रखा जाता है, परियोजना की निधि पर निर्भर होता है (रामचन्द्रन व अन्य, 2018)।

परिणामस्वरूप, हमने देश भर में शैक्षिक प्रशासन को धीरे-धीरे कमज़ोर होते देखा। मुख्य प्रशासनिक तंत्र वित्तीय साधनों की कमी, उचित प्रशिक्षित कर्मचारियों की कमी और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि आवश्यकता पड़ने पर परिवर्तन लाने की शक्ति न होने की वज़ह से लाचार है। स्कूल निरीक्षकों और फील्ड स्तर के अन्य कर्मचारियों का वर्ग कमज़ोर होता जा रहा है। यहाँ तक कि पारम्परिक स्कूल स्तर के आँकड़ा अभिग्रहण तंत्र ने भी डाइस (DISE) के लिए रास्ता छोड़ दिया। मुख्य शिक्षा नौकरशाही इस प्रयास में है कि वह क्या कर सकती है। दूसरी तरफ शिक्षा परियोजनाओं के लिए बनाई गई स्वायत्त संस्थाओं को न केवल अधिक संसाधन मिलते हैं (कम-से-कम 2014-15 तक तो) बल्कि उन्हें अधिक स्वायत्तता भी मिलती है। अब इस तंत्र की समीक्षा की जा रही है, लेकिन हानि तो हो चुकी है। इसे वापस पटरी पर लाने के लिए बहुत सारा समय और राजनीतिक/प्रशासनिक इच्छा की आवश्यकता होगी।

पिछले 15 वर्षों में मैंने 10 से भी अधिक गुणात्मक शोध अध्ययन किए और उनसे जो अन्तर्दृष्टि मिली, वह बताती है कि प्रशासक और राजनीतिक नेता नीतियों को गम्भीरता से नहीं लेते। इसे बस उद्देश्यों का व्यापक विवरण और अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के लिए एक राजनीतिक वक्तव्य के रूप में देखा जाता है- जिसे लागू करने की कोई 'बाध्यता' नहीं होती। पिछले कई दशकों से भारत सरकार की नीतियों में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए सार्वभौमिक लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं लेकिन इनके मानदण्ड लगातार बदले जाते रहे हैं। हमने काग़ज़ पर तो सार्वभौमिक प्राथमिक विद्यालय नामांकन हासिल कर लिया है, लेकिन कक्षा 8 (प्रारम्भिक) तक सार्वभौमिक भागीदारी प्राप्त करने के लिए बहुत लम्बा रास्ता तय करना है। सभी बच्चों के लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षा का सपना सच नहीं हो पाया है। सच्चाई तो यह है कि जब तक सरकार नीतियों को विधायी जनादेश के रूप में नहीं देखती- एक ऐसा विधायी जनादेश जिसे उन्हें पूरी तरह से और निर्धारित समय में लागू करना है- तब तक तो चुनिन्दा क्रियान्वयन ही होगा।

पिछले दो-तीन दशकों से एक और महत्त्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि मिली है- हमारे प्रशासक और राजनीतिक नेता शिक्षा नीतियों में साम्यता और निष्पक्षता के लिए प्रतिबद्ध नहीं हैं। अतः निजी स्कूलों की लगातार वृद्धि हुई है और जो कोई भी आर्थिक रूप से इन स्कूलों का ख़र्चा उठा सके, वह अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों से निकालकर इन निजी स्कूलों में डाल देता है। इसी तरह सरकार भी सरकारी स्कूली शिक्षा प्रणाली के भीतर कई परतें बनाने में माहिर रही है- प्रणाली में महत्त्वपूर्ण लोगों को विशेषाधिकार देना। आज केन्द्रीय विद्यालय, नवोदय विद्यालय और अन्य आवासीय विद्यालयों को अधिक वित्तीय

और मानव संसाधन मुहैया कराए जाते हैं। दिल्ली जैसे कुछ राज्य तो एक क़दम आगे बढ़ गए हैं – सरकारी स्कूलों को तीव्र बुद्धि वाले विद्यार्थियों (प्रतिभा विद्यालय) का ध्यान रखने वाले विद्यालयों के रूप में वर्गीकृत किया गया है और इन स्कूलों को सामान्य सरकारी स्कूलों की तुलना में कहीं अधिक संसाधन मिलते हैं। स्कूल के भीतर भी "होनहार" बच्चों के लिए अलग विभाग बनाए जाते हैं। परिणामस्वरूप सामान्य सरकारी स्कूलों को बहुत नीचे धकेल दिया गया है जिन्हें बहुत कम संसाधन और बेहद कम प्रबन्धन समय मिलता है।

भारत में हमारी यह हालत क्यों हो गई है? ऐसा क्यों है कि समानता, सामाजिक न्याय और ग़ैर-भेदभाव के लिए प्रतिबद्ध नीतियाँ अनदेखी रह जाती हैं?

रश्मि शर्मा (शर्मा और रामचन्द्रन 2009)[5] का तर्क है : 'सच्चाई तो यह है कि कोई भी नीति या योजना जो मौजूदा वास्तविकता के लिए अनजान हो, वह केवल एक इच्छा सूची बनकर रह जाती है...भारतीय सन्दर्भ में "नीति" को पुनः परिभाषित करना बेहद ज़रूरी है। सबसे पहले तो नीति को वे प्रमुख मुद्दे हल करने चाहिए जो आज सरकार के सामने हैं...।' हमने देखा है कि जब नीति के क्रियान्वयन के लिए ज़िम्मेदार संस्थाएँ खुद नियंत्रण में नहीं होतीं तो नीति सम्बन्धी घोषणाओं को उतना फ़ायदा नहीं मिल पाता। उन पर अधिकार क्षेत्र या लाभ के उद्देश्य हावी हो जाते हैं, या ये ऐसे नौकरशाहों द्वारा संचालित होते हैं जिन्हें शैक्षिक प्रक्रियाओं की कम समझ होती है। विभिन्न संस्थानों के बीच, विभिन्न परतों के बीच और नीतियों व अभ्यास के बीच, क्षैतिज और लम्बवत दोनों रूपों से जुड़ाव का अभाव साफ नज़र आता है और इसका कारण है शैक्षिक विकास के लिए एकीकृत दृष्टि का न होना।

अन्ततः इस मुद्दे का कारण है साम्यता और ग़ैर-भेदभाव के लिए संवैधानिक रूप से स्थापित लक्ष्यों के लिए प्रतिबद्धता की कमी होना। लगता है कि इसके अलावा कोई और स्पष्टीकरण नहीं है।

---

[5]Sharma, Rashmi and Vimala Ramachandran. 2009. The Elementary Education System in India: Exploring Institutional Structures, Processes and Dynamics. Routledge. New Delhi

विमला रामचन्द्रन एजुकेशनल रिसोर्स यूनिट, दिल्ली की, महिला समाख्या (महिला समानता के लिए शिक्षा) की संकल्पना में शामिल थीं। उन्होंने 1988-93 में मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत में प्रथम राष्ट्रीय परियोजना निदेशक के रूप में कार्य किया। उन्होंने 1998 में शिक्षा के क्षेत्र में काम कर रहे शोधकर्ताओं और अभ्यासकर्ताओं के समूह के रूप में एजुकेशनल रिसोर्स यूनिट की स्थापना की जिसे अब ईआरयू कंसल्टेंट्स प्राइवेट लिमिटेड के रूप में जाना जाता है। वे एक राष्ट्रीय फेलो और NUEPA में शिक्षक प्रबन्धन और विकास की प्रोफ़ेसर थीं। वे प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में शोध में रत हैं जिसमें उनका फ़ोकस जेंडर और समानता के मुद्दों, शिक्षक की स्थिति और प्रेरणा, राष्ट्रीय नीतियों व साम्यता के लक्ष्यों और प्रारम्भिक शिक्षा के कार्यक्रमों को समझने के लिए तंत्र सम्बन्धी बाधाओं, वयस्क साक्षरता तथा निरन्तर शिक्षा आदि पर है। सम्प्रति वे स्कूल न जाने वाले युवाओं (विशेष रूप से लड़कियों की) शैक्षिक आवश्यकताओं पर शोध करने में जुटी हुई हैं। उनसे *vimalar.ramachandran@gmail.com* पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद :** नलिनी रावल